AMOGHVARTA

ISSN : 2583-3189

भारतीय लोकतंत्रः विरासत से विकास तक

ORIGINAL ARTICLE

Authors

डॉ. शिल्पी बोस

विभागाध्यक्ष, लोकप्रशासन

शासकीय जे. योगानन्दम स्वशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय

रायपुर, छत्तीसगढ़, भारत

युगलकिशोर चंद्राकर

अतिथि व्याख्याता, लोकप्रशासन

संत गुरु घासीदास शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

कुरुद, छत्तीसगढ़, भारत

शोध सार

यह लेख प्राचीन सहभागी परंपराओं से लेकर आधुनिक संस्थागत ढाँचों और विकासात्मक चुनौतियों तक भारतीय लोकतंत्र की विशिष्ट यात्रा का विश्लेषण करता है। यह विचार करता है कि भारतीय लोकतंत्र में मानव जीवन, लोक प्रशासन, अर्थव्यवस्था, सुशासन तथा कूटनीति के क्षेत्र में बहुत से आयाम आज भी प्रासंगिक हैं। यह विचार का खंडन करता है कि लोकतंत्र मुख्यतः पश्चिमी विरासत है, और दिखाता है कि भारत का राजनीतिक जीवन लम्बे समय से चली आ रही स्वदेशी विचार–विमर्श परंपराओं की सभा और समिति, बौद्ध संघ, ग्राम पंचायतें, मंदिर एव।शिल्पी संघ पर आधारित है, और यही सांस्कृतिक स्रोत औपनिवेशिक शासन के प्रति प्रतिक्रियाओं और आधुनिक संविधान के निर्माण को प्रभावित करते हैं। लेख 1947 के बाद की संस्थागत प्रगति, चुनावी विस्तार, न्यायिक नवाचार, और विकेन्द्रीकृत शासन (पंचायती राज एवं नगरीय स्थानीय संस्थाएँ) की समीक्षा करता है तथा भारतीय संदर्भ में लोकतंत्र और विकास के जटिल, पारस्परिक संबंध का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह रेखांकित करता है कि किस प्रकार लोकतांत्रिक तंत्र ने सामाजिक जागरूकता, नीति पुनर्परिभाषा और समावेशी कार्यक्रमों (भूमि सुधार, हरित क्रांति, कल्याण योजनाओं) को प्रोत्साहित किया है, वहीं असमानता, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिक राजनीति और पर्यावरणीय दबाव जैसी निरंतर चुनौतियों का सामना भी करना पड़ा है। डिजिटल युग में सहभागिता के नए अवसर (ई–गवर्नेंस, सोशल मीडिया) गलत सूचना और निगरानी जैसे जोखिमों के साथ मौजूद हैं। समीक्षा यह निष्कर्ष निकालती है कि भारतीय लोकतंत्र की दृढ़ता उसकी सजीव सभ्यतागत विचार–विमर्श और वाद–विवाद की परंपरा से आती है,परंतु समावेशिता और प्रभावी विकास बनाए रखने के लिए संस्थागत नवाचार, सशक्त स्थानीय शासन तथा पुनर्जीवित जन–सार्वजनिक क्षेत्र की आवश्यकता होगी।

मुख्य शब्द

समावेशी विकास, सुशासन, न्यायिक नवाचारए ई गवर्नेंस, जवाबदेही.

प्रस्तावना

भारत का लोकतंत्र अपने पैमाने, विविधता और स्थायित्व के लिए उल्लेखनीय है। रियासतों और अनेक

साम्राज्यों वाली राजनीतिक संरचना से लेकर आज के एक अरब से अधिक जनसंख्या वाले संघीय गणराज्य तक, भारत ने प्रतिनिधि संस्थाओं, नियमित प्रतिस्पर्धी चुनावों और नागरिक स्वतंत्रता को सुदृढ़ करने वाली संवैधानिक व्यवस्था को निरंतर बनाए रखा है। फिर भी भारत के लोकतांत्रिक धैर्य को समझने के लिए केवल औपचारिक संस्थाओंकृसंविधान, न्यायालय, निर्वाचन व्यवस्था पर ध्यान देना पर्याप्त नहीं है; इसके लिए उन गहरी सांस्कृतिक परंपराओं और ऐतिहासिक निरंतरताओं को भी समझना आवश्यक है जो आधुनिक राज्य–निर्माण से बहुत पहले सार्वजनिक विचार–विमर्श, नैतिक शासन और स्थानीय भागीदारी की अपेक्षाओं को पोषित करती रही हैं। जहाँ परंपरागत विवरण लोकतंत्र की जड़ें प्राचीन यूनान और आधुनिक यूरोपीय वैचारिक धाराओं में खोजते हैं, वहीं भारतीय राजनीतिक इतिहास सामूहिक विचार–विमर्श (सभा और समिति), परामर्शात्मक नेतृत्व (जैसे महाभारत के शांतिपर्व में), मठवासी सामूहिकताओं (बौद्ध संघ), तथा सामुदायिक परिषदों (पंचायतें, शिल्पी संघ, मंदिर समितियाँ) के समानांतर और कभी–कभी इससे भी प्राचीन मॉडल प्रस्तुत करता है। ये स्वदेशी प्रथाएँ पश्चिमी अर्थों में उदार लोकतंत्र को स्वयंसिद्ध रूप से उत्पन्न नहीं करती थीं, परन्तु इन्होंने तर्क–वितर्क, सहमति और जवाबदेही जैसी सांस्कृतिक क्षमताएँ विकसित कीं, जिसने आधुनिक लोकतांत्रिक संस्थाओं के आत्मसात को सरल बनाया।

औपनिवेशिक अनुभव ने एक ओर स्थानीय स्वायत्तताओं को बाधित किया, तो दूसरी ओर उसने ऐसा नौकरशाही, कानूनी और संगठनात्मक ढाँचा भी प्रस्तुत किया जिसने राष्ट्रवादी चेतना और संवैधानिकता को विकसित होने का अवसर दिया। संविधान सभा (1946–1950) को इन विभिन्न धाराओं का संगम माना जा सकता है जहाँ पश्चिमी संवैधानिक विचारों को भारतीय बहुलता, सामाजिक न्याय और स्थानीय स्वशासन की चिंताओं के साथ मिश्रित किया गया। 1947 के बाद भारत ने लोकतांत्रिक शासन और विकासात्मक एजेंडे का संयुक्त प्रयोग आरम्भ किया वयस्क मताधिकार, योजनाबद्ध आर्थिक विकास, तथा बाद में उदारीकरण और विकेंद्रीकरण। यह समीक्षा इन सभी प्रक्रियाओं का विस्तृत विश्लेषण करती है, भारत के विकास में लोकतंत्र की भूमिका का मूल्यांकन करती है, तथा समकालीन चुनौतियों और अवसरों का आकलन प्रस्तुत करती है।

विरासत लोकतंत्र की गहरी जड़ें सभा, समिति और वैदिक विचार–विमर्श

दक्षिण एशिया में राजनीतिक विचार–विमर्श के सबसे प्रारंभिक संदर्भ वैदिक साहित्य में मिलते हैं। ऋग्वेद, मनु स्मृति और अन्य वैदिक ग्रंथों में वर्णित सभा और समिति ऐसे संस्थागत मंचों की उपस्थिति दर्शाते हैं जहाँ सार्वजनिक हित से जुड़े मुद्दों पर चर्चा होती थी, शासकों की जवाबदेही सुनिश्चित की जाती थी और नेतृत्व का अनुमोदन किया जाता था। यद्यपि इन शब्दों की सटीक संस्थागत संरचना पर इतिहासकारों में मतभेद हैं, परंतु उनका मान्यतम महत्त्व स्पष्ट हैः विचार–विमर्श, सामूहिक स्वीकृति, और शासकों से नैतिक अपेक्षाओं का विचार प्रारंभिक सार्वजनिक जीवन में गहराई से निहित था।

ये प्रारूप संस्थाएँ आधुनिक प्रतिनिधिक लोकतंत्र नहीं थीं, लेकिन इन्होंने स्थायी राजनीतिक अवधारणाएँ विकसित कीं कि सत्ता तभी वैध है जब वह समुदाय के प्रति जवाबदेह हो; निर्णय सार्वजनिक कल्याण के अनुरूप होने चाहिए; और तर्कपूर्ण बहस का महत्त्व है। यह तर्कप्रधान परंपरा भारत की राजनीतिक भाषा का अंग बन गई।

गणराज्य, गण–संघ और अशोक का शासन

बौद्ध और जैन ग्रंथों, अशोक के शिलालेखों तथा यूनानी यात्रियों के विवरणों में उत्तर भारत के कुछ भागों में गण या संघ रूपी गणराज्यों (जैसे वज्जि/वृज्जि, जिसकी राजधानी वैशाली थी) का उल्लेख मिलता है। इन राज्यों में कुलीन परिषदें, सभाएँ, पदों का आवर्तन, तथा शासन हेतु संहिताबद्ध नियम देखे जाते हैं जिन्हें विद्वान कभी–कभी अन्य क्षेत्रों की प्राचीन गणतांत्रिक व्यवस्थाओं से तुलना करते हैं। यद्यपि ये व्यापक जन–भागीदारी वाले लोकतंत्र नहीं थे, फिर भी इन्होंने यह विचार संस्थागत किया कि सत्ता सामूहिक भी हो सकती है और सीमाओं में बँधी रहनी चाहिए।

बौद्ध संघ निर्णय–प्रक्रिया और नियम

बौद्ध मठ समुदाय (संघ) संगठित प्रक्रियात्मक शासन का एक मॉडल प्रस्तुत करता है – विचार–विमर्श,

मतदान, अनुशासनिक नियम और सर्वसम्मति आधारित नेतृत्व चयन। मठीय नियमों में निर्णयों पर चर्चा अनिवार्य थी और उनके लिखित अभिलेख (वस्तुकथा) रखे जाते थे, जो सामूहिक शासन की एक विकसित प्रणाली का संकेत देते हैं। इन प्रक्रियाओं ने निष्पक्षता और सामूहिक उत्तरदायित्व के ऐसे मानदंड विकसित किए जो लोकतांत्रिक संस्कृति की आधारशिला हैं।

ग्राम पंचायतें, शिल्पी संघ और नगर सभाएँ

सदियों तक स्थानीय शासन की संरचना अत्यंत सशक्त रही। ग्राम परिषदें सिंचाई प्रबंधन, विवाद निपटान, सामूहिक श्रम के आयोजन और सामुदायिक कर निर्धारण की जिम्मेदारी निभाती थीं। मंदिर संस्थाएँ, व्यापारी संघ और नगर समितियाँ उपविधियाँ बनाती थीं और न्यायिक नियम लागू करती थीं। चोल काल के उत्तिरमेरूर शिलालेख इसका प्रमुख उदाहरण हैं, जिनमें गाँव की चुनाव प्रक्रिया, योग्यताएँ और उत्तरदायित्व संबंधी प्रावधानों का विवरण मिलता है। ऐसी स्थानीय स्वायत्त परंपराओं ने नागरिक प्रथाओं का एक आधार तैयार किया, जिसने आधुनिक चुनावी व्यवस्थाओं को अपनाना सरल बनाया।

धार्मिक आंदोलन और सामाजिक समतावाद

भक्ति आंदोलनों से लेकर सूफी परंपराओं तक, भारत में ऐसी प्रबल धाराएँ रहीं जिन्होंने आध्यात्मिक समानता पर ज़ोर दिया, जाति और पुरोहितवादी ऊँच–नीच को चुनौती दी, तथा सार्वजनिक संवाद को प्रोत्साहित किया। संत एवं कवि विशाल जनसमूहों को संबोधित करते थे, प्रायः जाति, भाषा और क्षेत्रीय सीमाओं से ऊपर उठकर जिससे ऐसी संस्कृति विकसित हुई जो अभिव्यक्ति और आलोचना दोनों को महत्त्व देती है।

संक्षेप में, भारत की विरासत सहभागी राजनीति के लिए गहन एवं बहुस्तरीय संसाधन प्रदान करती है विवाद और संवाद की परंपरा, परिषदों की संस्थागत स्मृति, और उत्तरदायी शासन की नैतिक भाषा। यद्यपि ये संसाधन पश्चिमी उदार लोकतंत्र के समान नहीं थे, फिर भी इन्होंने उन सामाजिक क्षमताओं का निर्माण किया जिन पर आगे चलकर आधुनिक लोकतांत्रिक संस्थाएँ आधारित हो सकीं।

औपनिवेशिक विरासत और आधुनिक संविधान औपनिवेशिक शासन के दौरान विघटन और नव–निर्माण

ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारतीय शासन संरचना को गहराई से बदल दिया। औपनिवेशिक राज्य ने राजस्व संग्रह, न्यायिक अधिकार और सैन्य नियंत्रण को केंद्रीकृत कर दिया, जिससे अनेक पारंपरिक सत्ता–संरचनाएँ कमजोर पड़ीं साथ ही, उपनिवेशी संस्थाओं ने संहिताबद्ध कानून, आधुनिक नौकरशाही, आधुनिक शिक्षा, व्यावसायिक अर्थव्यवस्था और प्रेस जैसी व्यवस्थाओं की शुरुआत की। ये शासन–उपकरण द्वैध प्रभाव रखते थे इन्होंने मौजूदा स्वशासी क्षमताओं को कमजोर किया, परंतु साथ ही एक ऐसा सार्वजनिक क्षेत्र भी बनाया जहाँ नई राजनीतिक संस्थाएँ और संगठन विकसित हो सके।

औपनिवेशिक शासन में सीमित प्रतिनिधिक परिषदों और कानूनी संरक्षणों चाहे वे कितने ही सीमित क्यों न हों ने ऐसी प्रक्रियाएँ स्थापित कीं जिन्हें भारतीयों ने बाद में राजनीतिक रूप दिया। शिक्षा और मुद्रण ने राष्ट्रीय बुद्धिजीवी वर्ग को जन्म दिया; प्रशिक्षित वकीलों, समाज सुधारकों और क्षेत्रीय अभिजनों ने औपनिवेशिक कानूनी साधनों का उपयोग शक्ति को चुनौती देने, संसाधनों को संगठित करने और जनमत निर्माण हेतु किया।

सार्वजनिक संगठन और राष्ट्रवाद का उदय

19वीं सदी के मध्य से ही स्थानीय संगठनों, सामाजिक सुधार आंदोलनों, जाति और धार्मिक संघों, तथा राजनीतिक क्लबों का विस्तार हुआ। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (स्थापित 1885), क्षेत्रीय प्रेस और नागरिक समाज के नेटवर्क मोलभाव और आंदोलन के प्रमुख मंच बने। कई नेता आधुनिक राजनीतिक विचारों को भारतीय परंपराओं से जोड़ते थे गाँधी का सत्याग्रह धार्मिक नैतिकता और ग्राम स्वावलंबन पर आधारित था; अम्बेडकर ने संवैधानिक कानून और नैतिक दर्शन का सहारा लेते हुए अछूतों के लिए सामाजिक न्याय की मांग की।

संवैधानिकता और संविधान सभा स्वरूपों का समन्वय

स्वतंत्रता का मार्ग ब्रिटिशों के साथ संवैधानिक वार्ताओं और आज़ादी के बाद के राज्य के स्वरूप पर आंतरिक बहसों से होकर गुज़रा। संविधान सभा (1946.1950) एक विचार–विमर्शकारी मंच थी जहाँ विभिन्न दृष्टिकोण एकात्मक बनाम संघीय, बहुमतवाद बनाम अल्पसंख्यक संरक्षण, सार्वभौमिक मताधिकार बनाम सीमित मताधिकार खुले रूप से चर्चित हुए। अंतिम संविधान ने उदारवादी सिद्धांतों (मौलिक अधिकार, स्वतंत्र न्यायपालिका) को भारतीय प्राथमिकताओं (राज्य के नीति निदेशक तत्व, आरक्षण, भाषाई सुरक्षा, स्थानीय स्वशासन) के साथ समाहित किया। इस प्रकार संविधान ने भारत की विविधता और विकासात्मक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एक बहुलवादी, अधिकार–आधारित ढाँचा स्थापित किया।

स्वतंत्रता के बाद की व्यवहारिकता और विस्तार सार्वभौमिक मताधिकार और 1952 के चुनाव

स्वतंत्रता के समय सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार लागू करना भारत का साहसिक निर्णय था 1952 में बड़ी हद तक निरक्षर आबादी को मतदान का अधिकार दिया गया। इतने बड़े पैमाने पर चुनाव आयोजित करने के लिए प्रशासनिक नवाचार की आवश्यकता पड़ी (मतदाता सूची, स्थानीय प्रशासन, मतदाता शिक्षा)। शांतिपूर्ण सत्ता–हस्तांतरण के क्रमिक अनुभवों ने यह प्रमाणित किया कि विविध सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों में भी लोकतांत्रिक शासन प्रभावी रूप से संचालित हो सकता है।

संस्थागत गहराई–न्यायालय, चुनाव आयोग और निगरानी तंत्र

1950 के बाद की संस्थाएँ समय के साथ स्वायत्तता और अधिकार प्राप्त करती गईं। सर्वोच्च न्यायालय की सक्रिय न्यायशास्त्र मौलिक अधिकारों का विस्तार और जनहित याचिकाओं की मान्यता ने न्यायपालिका को कार्यपालिका पर एक महत्वपूर्ण संतुलनकारी शक्ति बनाया। चुनाव आयोग, जो प्रारंभ में एक व्यक्ति का निकाय था, स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव कराने के लिए विख्यात हुआ निर्वाचन क्षेत्रों के निर्धारण, मतदाता पंजीकरण और आचार संहिता पर इसके निर्णय चुनावी विश्वसनीयता के केंद्र बने। नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक, सूचना पारदर्शिता तंत्र और खोजी पत्रकारिता ने भी सार्वजनिक जवाबदेही को मज़बूत किया।

विकेंद्रीकरण पंचायती राज और नगरीय स्थानीय निकाय

73वाँ और 74वाँ संविधान संशोधन (1992) विकेंद्रीकरण को संस्थागत करने के लिए महत्वपूर्ण थे पंचायती चुनावों को अनिवार्य बनाना, महिलाओं और अनुसूचित जाति/जनजाति के लिए आरक्षण, तथा कार्यों व वित्त का हस्तांतरण। यद्यपि राज्यों में इन संशोधनों का क्रियान्वयन असमान रहा है, फिर भी इन्होंने जमीनी स्तर पर भागीदारी और सेवा–प्रदाय के लिए व्यापक अवसर उत्पन्न किए जिससे स्थानीय स्तर पर लोकतांत्रिक नागरिकता सुदृढ़ हुई।

सामाजिक आंदोलनों और अधिकार–आधारित पहलें

स्वतंत्रता के बाद किसान आंदोलनों, मज़दूर संघों, दलित संघर्षों, नारीवादी अभियानों, पर्यावरणीय आंदोलनों और अधिकार–आधारित मुकदमों ने लोकतांत्रिक विमर्श को आगे बढ़ाया। इन आंदोलनों ने लोकतांत्रिक दावों के दायरे को चुनावी राजनीति से परे विस्तारित किया और संस्थाओं पर गहरी असमानताओं व उभरती सामाजिक मांगों के प्रति संवेदनशील होने का दबाव बनाया।

संकट में धैर्य आपातकाल और पुनर्प्राप्ति

आपातकाल (1975–77) भारतीय लोकतंत्र की एक निर्णायक परीक्षा थी। नागरिक स्वतंत्रताओं का निलंबन और सत्ता का केंद्रीकरण ने कुछ समय के लिए लोकतांत्रिक संस्थाओं को सीमित कर दिया, परंतु चुनावी प्रतिस्पर्धा की वापसी और 1977 में सत्तारूढ़ दल की पराजय ने यह दर्शाया कि समाज में संवैधानिक मूल्यों के प्रति गहरा समर्पण है और संस्थाएँ आत्म–सुधार की क्षमता रखती हैं।

कौटिल्य के राज सिद्धांत, लोक प्रशासन और भारतीय ज्ञान परंपरा का अंतरसंबंध

कौटिल्य के शासन–सिद्धांत, आधुनिक लोक प्रशासन और भारतीय ज्ञान–परंपरा का विकास तीनों परस्पर गहराई से जुड़े हुए हैं। इन तीनों में अंतर्संबंध हैं:

1. **प्रशासनिक नैतिकता का साझा आधार:** कौटिल्य का "राजा प्रजा के सुख में सुखी होता है" वर्तमान का लोक प्रशासन नागरिक–केंद्रित शासन और ज्ञान–परंपरा का मानव–कल्याण केंद्रित दर्शन तीनों को जोड़ता है।
2. **संगठन और शासन की वैज्ञानिकता:** कौटिल्य ने वैज्ञानिक प्रशासनिक ढांचा दिया; विभागीय संगठन, कार्य–विभाजन, दण्ड नियम इत्यादि आधुनिक लोक प्रशासन इनमें संगठन, नियंत्रण, एचआरएम और नीति–क्रियान्वयन को विकसित रूप देता है।
3. **बहुलता और संवाद की परंपरा:** भारतीय ज्ञान–परंपरा की विविधता वेदांत से बौद्ध–जैन, भक्ति–सूफी से आधुनिक सुधारक लोक प्रशासन में सहभागी प्रशासन और पंचायत राज तक पहुँचती है।
4. **सुशासन और ज्ञान के स्रोत:** कौटिल्य का सुशासन मॉडल, भारतीय ज्ञान–परंपरा के नैतिक मूल्य तथा आधुनिक लोक प्रशासन की ई–गवर्नेंस, डिजिटल गवर्नेंस, पारदर्शिता, जवाबदेही में एकरूपता और सामंगिकता दिखाई देती है
5. **नीति–निर्माण पर प्रभाव:** आधुनिक कल्याणकारी राज्य, सामाजिक न्याय के सिद्धांत और सामुदायिक भागीदारी, धर्म नैतिकता पर आधारित निर्णय के सिद्धांत में भारतीय परंपरा और कौटिल्य की झलक स्पष्ट दिखती है।

लोकतंत्र और विकास का अंतर्संबंध द्विपक्षीय संबंध

भारत में लोकतंत्र और विकास का संबंध परस्पर निर्माणकारी और कभी–कभी विवादपूर्ण है। लोकतंत्र से वैधता, जवाबदेही और उत्तरदायी शासन प्राप्त होता है, जो विकास के लिए अनुकूल माना जाता है; वहीं आलोचकों का तर्क है कि लोकतांत्रिक राजनीति धीमी होती है, लोकलुभावनवाद और स्वार्थसाधन की चपेट में भी आ सकती है। भारत का अनुभव इन दोनों पहलुओं को दर्शाता है।

विकास में सहायक लोकतंत्र

लोकतांत्रिक जवाबदेही ने बुनियादी सार्वजनिक सेवाओं के विस्तार में मदद की साक्षरता अभियान, प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार, ग्रामीण विद्युतीकरण और सार्वजनिक वितरण प्रणाली राजनीतिक लामबंदी और चुनावी प्रोत्साहनों से जुड़े थे। राजनीतिक प्रतिस्पर्धा ने सरकारों को अपने मतदाताओं को सेवाएँ देने के लिए प्रेरित किया। साथ ही, लोकतंत्र में सामाजिक आंदोलनों ने पुनर्वितरण–आधारित नीतियों की माँग बढ़ाई कुछ राज्यों में भूमि सुधार, खाद्य सुरक्षा उपाय, आरक्षण नीतियाँ और बाद में रोजगार गारंटी योजनाएँ।

लोकतांत्रिक राजनीति से आकार पाता विकास

आर्थिक रणनीतियाँ भी राजनीतिक समझौतों से तय हुईं नेहरू का राज्य–नेतृत्व वाला औद्योगीकरण मॉडल, हरित क्रांति (तकनीकी रूप से प्रेरित पर राजनीतिक रूप से समर्थित) और 1991 का उदारीकरण, जिसे संसदीय बहुमत और नीति बहस के बाद आगे बढ़ाया गया ये सभी लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में लिए गए निर्णयों के उदाहरण हैं।

चुनौतियाँ असमानता, भ्रष्टाचार, क्रियान्वयन

केवल लोकतंत्र तेज़ और समान विकास की गारंटी नहीं देता। जन–समर्थक तंत्र (क्लाइंटेलिज़्म), स्थानीय अभिजात वर्ग का प्रभाव, नौकरशाही जड़ता और भ्रष्टाचार कभी–कभी सार्वजनिक संसाधनों को भटका देते हैं। क्षेत्रीय विषमताएँ बनी रहीं कुछ राज्यों (जैसे केरल, तमिलनाडु) ने सामाजिक उपलब्धियाँ तो हासिल कीं पर आर्थिक वृद्धि

अपेक्षाकृत धीमी रही; वहीं कुछ राज्यों ने तेज़ वृद्धि देखी पर मानव विकास सूचकांकों में सीमित सुधार हुआ। विकास के परिणाम इस प्रकार शासन की गुणवत्ता, संस्थागत गहराई और राजनीतिक गठबंधनों की प्रकृति पर निर्भर करते हैं।

सुधार तंत्र न्यायालय, आरटीआई और नागरिक कार्रवाई

शासनात्मक कमियों को दूर करने के लिए भारत ने कई सुधार उपकरण विकसित किए सक्रिय न्यायपालिका, सूचना का अधिकार (2005), सामाजिक अंकेक्षण और सतर्क मीडिया। इन साधनों ने प्रशासनिक कमजोरियों की आंशिक भरपाई की और राजनीतिक तथा नौकरशाही वर्ग को जवाबदेह बनाने में मदद की।

समकालीन चुनौतियाँ और अवसर लोकलुभावनवाद, बहुमतवाद और संस्थागत दबाव

वैश्विक स्तर पर लोकलुभावनवाद और पहचान–आधारित राजनीति के बढ़ने का भारत पर भी प्रभाव पड़ रहा है। बहुमतवादी नैरेटिव कभी–कभी अल्पसंख्यक संरक्षण और बहुलवादी मानदंडों पर दबाव डालते हैं। कार्यपालिका में शक्ति का केंद्रीकरण, स्वतंत्र संस्थाओं (मीडिया, विश्वविद्यालय, न्यायपालिका) पर दबाव, और बढ़ती राजनीतिक ध्रुवीकरण लोकतांत्रिक बहुलवाद के लिए वास्तविक जोखिम हैं।

संघवाद और केंद्र राज्य संबंध

भारत की संघीय संरचना निरंतर मोलभाव और पुनर्समायोजन का क्षेत्र रही है। राजकोषीय केंद्रीकरण, केंद्र प्रायोजित योजनाएँ और केंद्र की निगरानी राज्य स्वायत्तता पर बहसें उत्पन्न करती हैं। जहाँ राष्ट्रीय समन्वय मानकों और पुनर्वितरण के लिए आवश्यक है, वहीं उप–राष्ट्रीय विविधता और स्थानीय नीति–नवाचार को संरक्षित रखना प्रतिनिधित्व और समस्या–समाधान के लिए महत्वपूर्ण है।

डिजिटल परिवर्तन संभावनाएँ और खतरे

डिजिटलीकरण (आधार, प्रत्यक्ष लाभ अंतरण, डिजिटल इंडिया पहल) ने शासन क्षमता में सुधार किया है और कुछ रिसावों को कम किया है साथ ही, सोशल मीडिया ने सूचना को लोकतांत्रिक बनाया, पर गलत सूचना, प्रतिध्वनि–कक्ष और लक्षित राजनीतिक प्रचार भी बढ़ाया। डेटा गोपनीयता, साइबर सुरक्षा और एल्गोरिदमिक शासन नई चुनौतियाँ हैं, जिनके लिए उपयुक्त कानूनी और संस्थागत ढाँचे की आवश्यकता है।

शहरीकरण, प्रवासन और सामाजिक परिवर्तन

तेज़ी से बढ़ते शहरीकरण ने नए शासन–संबंधी प्रश्न खड़े किए झुग्गी बस्तियों का प्रशासन, असंगठित श्रम, आवास, परिवहन और नगर वित्त। प्रवासी आबादी और श्रमिक असुरक्षा राजनीतिक लामबंदी की क्षमता भी रखती है और शासन के लिए चुनौती भी।

जलवायु परिवर्तन और पर्यावरणीय शासन

पर्यावरणीय संकट लोकतांत्रिक राजनीति से सीधे जुड़े हैं . विस्थापन, कृषि संकट और संसाधन–संघर्षों के समाधान के लिए उत्तरदायी राज्य कार्रवाई और नागरिक भागीदारी दोनों आवश्यक हैं। टिकाऊ नीति–निर्माण के लिए लोकतांत्रिक विमर्श अनिवार्य है।

समावेशन और सामाजिक न्याय में प्रगति

कुछ सकारात्मक प्रवृत्तियाँ भी उभर रही हैं. स्थानीय निकायों में महिलाओं का बढ़ता प्रतिनिधित्व, सशक्त अधिकार–आधारित मुकदमे, और जलवायु तथा सामाजिक मुद्दों पर युवाओं की सक्रियता। ये भारतीय लोकतंत्र की अनुकूलनशीलता को दर्शाते हैं।

तुलनात्मक दृष्टिकोण और सीखें

बड़े और विविध लोकतंत्रों (जैसे ब्राज़ील, इंडोनेशिया, दक्षिण अफ्रीका) से तुलना करने पर समान चुनौतियाँ

दिखाई देती हैं. विविधता का प्रबंधन, विकास और अधिकारों के बीच संतुलन, तथा संस्थाओं को बहुमतवादी कब्जे से बचाना। भारत की विशिष्ट सीखों में शामिल हैं. स्वतंत्र न्यायपालिका का महत्व, विकेंद्रीकृत शासन का मूल्य, और संवैधानिक अधिकारों को कार्यक्रम–आधारित सामाजिक नीतियों के साथ संयोजित करने की क्षमता।

भारत का अनुभव यह भी संकेत देता है कि लोकतांत्रिक मजबूती केवल चुनावी प्रक्रिया पर नहीं, बल्कि नागरिक संस्कृति शिक्षा, विचार–विमर्श के मंच, स्वतंत्र मीडिया और सामाजिक संगठन पर निर्भर करती है। जहाँ ये मज़बूत होते हैं, वहाँ लोकतंत्र प्रतिनिधित्व को विकास परिणामों में बेहतर बदल पाते हैं।

नीतिगत निहितार्थ और सुझाव

लोकतांत्रिक गुणवत्ता और विकासात्मक प्रगति को बनाए रखने के लिए निम्नलिखित नीतिगत प्राथमिकताएँ महत्वपूर्ण हैं:

1. **स्थानीय शासन को सशक्त करना:** पंचायतों और नगर निकायों की वित्तीय स्वायत्तता बढ़ाना, क्षमता निर्माण को मजबूत करना, और सहभागी बजट की व्यवस्था लागू करना।
2. **संस्थागत स्वतंत्रता की रक्षा:** चुनाव आयोग, न्यायपालिका और स्वतंत्र नियामकों की स्वायत्तता को सुरक्षित रखना ताकि नियंत्रण और संतुलन बना रहे।
3. **डिजिटल प्लेटफॉर्म का विनियमन:** मज़बूत डेटा सुरक्षा कानून बनाना, सार्वजनिक प्रशासन में प्रयुक्त एल्गोरिद्म की पारदर्शिता सुनिश्चित करना, और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सम्मान करते हुए दुष्प्रचार पर रोक लगाना।
4. **नागरिक शिक्षा में निवेश:** युवाओं में आलोचनात्मक मीडिया समझ और विचार–विमर्श की संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए नागरिक शिक्षा कार्यक्रमों का विस्तार।
5. **समावेशी विकास का लक्ष्य:** सार्वभौमिक योजनाओं को हाशिये के समुदायों के लिए लक्षित हस्तक्षेपों के साथ संयोजित करना तथा निगरानी हेतु सामाजिक अंकेक्षण और सामुदायिक पर्यवेक्षण को बढ़ावा देना।
6. **जलवायु–संवेदी योजना:** विकास योजनाओं में पर्यावरणीय लचीलापन शामिल करना और संसाधन प्रबंधन से जुड़े निर्णयों में स्थानीय समुदायों को भागीदार बनाना।
7. **न्यायिक और प्रशासनिक सुधार:** प्रक्रियात्मक दक्षता बढ़ाना, त्वरित समाधान उपलब्ध कराना, और ई–गवर्नेंस तथा प्रदर्शन–आधारित मीट्रिक्स के माध्यम से प्रशासनिक जवाबदेही को मजबूत करना।

निष्कर्ष

भारत का लोकतांत्रिक प्रयोग एक महत्वपूर्ण सफलता भी है और निरंतर चुनौती भी। इसकी स्थिरता गहन सभ्यतागत विचार–विमर्श, नैतिक सत्ता–नियंत्रण, स्थानीय स्वशासन और सामाजिक आंदोलनों पर आधारित है। इन सांस्कृतिक संसाधनों ने आधुनिक संवैधानिकता को जीवंत राजनीति में रूपांतरित करने में सहायता की फिर भी लोकतांत्रिक बहुलवाद को बनाए रखने और समान विकास हासिल करने के लिए संस्थागत सतर्कता, अनुकूल शासन और विस्तृत सार्वजनिक क्षेत्र की आवश्यकता होगी.जो नई तकनीकों और सामाजिक मांगों को समाहित कर सके तथा अल्पसंख्यक अधिकारों और प्रक्रियात्मक न्याय की रक्षा कर सके।

विरासत और विकास का संबंध सरल प्रतिस्थापन नहीं, बल्कि गतिशील अंतःक्रिया है। विरासत मानक प्रदान करती है और सामाजिक क्षमताएँ विकसित करती है; विकास भौतिक और संगठनात्मक आवश्यकताएँ देता है। भारतीय लोकतंत्र का भविष्य इस पर निर्भर करेगा कि चवसपजल इस संबंध को कितनी प्रभावी ढंग से साधती है विचार–विमर्श की परंपराओं को संरक्षित रखते हुए संस्थागत नवाचारों को 21वीं सदी की जरूरतों के अनुरूप कैसे ढालती है। इसी संतुलन में बड़े, विविध समाजों में लोकतांत्रिक विकास के वैश्विक पाठ निहित हैं।

संदर्भ सूची

1. Altekar, A. S. (1955) Kautilya's Theory of State. *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute,* 36(1/4), 247–258.
2. Ghoshal, U. N. (1959) *A History of Indian Political Ideas,* Oxford University Press, London.
3. Jayaswal, K. P. (1924) *Hindu Polity.* Bangalore Printing and Publishing Co., Bangalore.
4. Kamandaka (1991) (c. 7th century CE) Nitisara (G. C. Pandey, Ed.) Chaukhamba Vidyabhavan, Varanasi.
5. Kamandaka, Nitisara (1991) Ed. G. C. Pandey. Chaukhamba, Chaukhamba Vidyabhavan, Varanasi.
6. Kulke, H. (1976) Kautilya and the Concept of the State, *Journal of Asian Studies,* 35(4), 572–584.
7. Kulke, Hermann. (1976) Kautilya and the Concept of the State in Ancient India. *Journal of Asian Studies,* 35(4), 572–584.
8. Mehta, V. R. (1992) *Foundations of Indian Political Thought,* Manohar Publishers, New Delhi.
9. Rangarajan, L. N. (1992) *Kautilya: The Arthashastra,* Penguin Books, New Delhi.
10. Sarkar, B. K. (1919) *The Political Science of the Arthasastra,* Longmans, Calcutta.
11. Sarkar, Benoy Kumar (1919) *The Political Science of the Arthasastra.* Longmans, Calcutta.
12. Shamasastry, R. (Trans.) (1915) *Kautilya's Arthashastra,* Government Press, Mysore.
13. Sharma, R. S. (1983) State Formation in Ancient India and the Relevance of Kautilya. *Indian Historical Review,* 10(1–2), 1–20.
14. Vyasa (1895) *Mahabharata: Shanti Parva,* (M. N. Dutt, Trans.) Elysium Press, Calcutta.

——==00==——